जैन दर्शन में जीव के अस्तित्व की वैज्ञानिकता

• *विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया*

वैदिक, बौद्ध और जैन दर्शन मिलकर भारतीय प्राच्य दर्शन के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। वैदिक दर्शन के लिए वेद, बौद्ध दर्शन के लिए त्रिपिट तथा जैन दर्शन के लिए आगम वाङ्मय उपलब्ध है। ये सभी दर्शन आस्थावादी है और सभी में जीव के अस्तित्व विषय पर चर्चा की गयी है। यहाँ जैन दर्शन में जीव के अस्तित्व की वैज्ञानिकता पर संक्षेप में चर्चा करेंगे।

जैन दर्शन में गुणों की मान्यता वस्तुतः महत्वपूर्ण है। यहाँ गुणों के समूह को द्रव्य कहा गया है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल नामक षट् द्रव्यों का उल्लेख है। इन द्रव्यों का समूह वस्तुतः कहलाता है-संसार। इस प्रकार जीव संसार का चेतन द्रव्य है। यह अविनाशी है। शाश्वत है। जीव अर्थात् प्राण जब पर्याय धारण करता है, तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणी अथवा जीव संसार में अनादि काल से जन्म-मरण के दारुण दुःखों को भोग रहा है। भव-भ्रमण की कहानी लम्बी है।

संसार में जागतिक और आध्यात्मिक दो प्रमुख दृष्टियाँ हैं। इन उभय दृष्टियों में जीव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि ज्ञान और दर्शन स्वभावी होने से वह आत्मा कहलाता है, तथापि संसारी दशा में प्राण धारण करने से वह जीव कहलाता है। जीव अनन्त गुणों का स्वामी है, प्रकाशवंत है तथा अमूर्तिक सत्ताधारी पदार्थ है। वह किन्हीं पंचभूतों के मिलने से उत्पन्न होने वाला कोई संयोगी पदार्थ नहीं है। भव-भ्रमण और भव-मुक्ति दोनों दशाओं में उसकी प्रधानता उल्लेखनीय है।

जागतिक दशा में वह पर्यायबद्ध अर्थात् शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक, लौकिक कार्य भी करता है और कर्म का भोक्ता भी है। वह इन सबका वस्तुतः ज्ञाता है। वह असंख्यात प्रदेशी भी है और संकोच विस्तार शक्ति के कारण शरीर प्रमाण होकर रहता भी है। उसे किसी एक ही सर्व व्यापक जीव का अंश होना जैन दर्शन नहीं मानता है। जीव तो अनन्तानंत हैं। उनमें से जो भी जीव साधना विशेष के द्वारा कर्मों तथा संस्कारों का क्षय/विनाश कर लेता है, वह सदा अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता परमात्मा बन जाता है। इसी अवस्था में उसके ज्ञाता और द्रष्टा गुण मुखर हो उठते हैं। जैन-दर्शन में जीव अथवा आत्मा की इसी स्थिति को ईश्वर अथवा भगवान् कहा गया है। इसके अतिरिक्त किसी एक ईश्वर की अवधारणा जैन दर्शन में मान्य नहीं है।

जीव के मुख्य दो भेद किए गए हैं संसारी और मुक्त। संसारी जीव के भी दो उपभेद किए गए हैं -त्रस और स्थावर। त्रस जीव के चार भेद किए गए हैं -दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। स्थावर जीव को पाँच भेदों में बांटा गया है- पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव और वनस्पति कायिक जीव। पंचेन्द्रिय जीव के भी दो उपभेद किए गए हैं -मन सहित जीव और मन रहित जीव। इन्हें पारिभाषित शब्दावलि में क्रमशः संज्ञी और असंज्ञी भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त शेष सभी जीव मन रहित होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास की दृष्टि से जीव के तीन भेद किए गए हैं -बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। समस्त संसारी जीव बहिरात्मा है। बहिरात्मा जीव शरीर को ही आत्मा समझता/मानता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में रुचिवंत रहता है और कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत रहता है। तब उसकी दशा में परिवर्तन होता है। वह अपने आत्म स्वरूप की ओर कभी उन्मुख नहीं होता। वह अपने कर्म फल कर्त्ता किसी अन्य को मानता है। ऐसा मिथ्या मति, अज्ञानीजीव जन्म-मरण के दारुण दुःखों को अनादि काल से भोगता रहा है। जब बहिरात्मा अपने दर्शन और ज्ञान स्वभाव की ओर उन्मुख होता है। चौदह गुण स्थानों -मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, सासादन सम्यक् दृष्टि गुण स्थान, मिश्र या सम्पग्विमथ्यात्व गुणस्थान, असंयत या अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान, अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थान, सूक्ष्म साम्पराय गुण स्थान, उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, संयोग केवली गुणस्थान तथा अयोग केवली गुण स्थान की अवस्था को जानने लगता है। ये सभी गुणस्थान जीव के विकास के पड़ाव हैं। ज्ञान और दर्शन गुणों के बलबूते पर उसे देह और आत्मा में अन्तर स्पष्ट हो जाता है और उस पर विश्वास करने लगता है। उसमें विवेक जग उठता है कि पर पदार्थ और स्व-पदार्थ दोनों भिन्न-भिन्न हैं और जीव अपने कर्म का स्वयंकर्त्ता होता है और अपने किए कर्म-फल का स्वयं ही भोक्ता होता है।

वह किसी सत्ता/प्रारंभी की अधीनता अपनी कामना पूर्ति के लिए नहीं स्वीकार करता है। वह इस दृष्टि से सदा स्वावलम्बी होता है और अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास करता है। उसका श्रद्धान सम्यक् दर्शन, सम्यकज्ञान तथा सम्यक् चारित्र में स्थिर हो जाता है और इसी मार्ग पर अग्रसर होने के लिए वह सतत रुचिवंत रहता है। इस मार्ग को मुक्तिमार्ग स्वीकरता है। जीव की यही दशा उसकी अन्तरात्मा कहलाती है।

अन्तरात्मा का जीव अपनीचर्या को संयम पूर्वक सम्पन्न करता है। बोलने में, देखने में, सुनने में, खाने-पीने में तथा चलने-फिरने में पूर्णतः सावधानी रखता है। यहाँ तक कि किसी वस्तु को उठाने अथवा रखने में, मतमूत्र विसर्जन में भी बड़ी सावधानी रखता है। उसे सतत चिन्ता रहती है कि मेरे कारण किसी भी जीव की विराधना न होने पावे। यह जीव की निर्विकार अवस्था कहलाती है।

संयम और तपश्चरण के बलबूते पर वह साधुचर्या में प्रवृत्त होता है। जैसे-जैसे वह ऐन्द्रिक व्यापारों में सधता जता है, उसकी चर्या स्वमुखी होने लगती है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय तथा आन्तराय कर्मों का क्षय/विनाश करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करता है। जैसे ही वह इन आत्म घाती कर्मों का क्षय कर लेता है वैसे ही उसमें केवल ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है। जीव की यह अवस्था प्रायः अरिहंत की अवस्था कहलाती है। जीव की अरिहंत अवस्था उसे भूमि से ऊपर उठा देती है। वह पृथ्वी से चार हाथ ऊपर उठकर अधर में हो जाता है। दरअसल यह उस जीव की निर्मल दशा का ही प्रकाशन है। आत्मघाती कर्मों का क्षय कर लेने पर वह जीव अपने शुद्ध पुरुषार्थ उपयोग में सतत सक्रिय रहता है। अब उसे अपने अघाती कर्म-बंध को निर्बन्ध करना होता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नामक कर्मबंध अघाती कर्मबंध कहलाते हैं। अघातिया कर्म का क्षय होने पर जीव का पूर्ण विकास होता है। जीव की पूर्ण विकसित अवस्था वस्तुतः उसे परमात्मा बनाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव की परमात्मा अवस्था में अनन्त चतुष्टय जग जाते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल और अनन्त सुख वस्तुतः अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं। अनन्त चतुष्टय धारी जीव की अवस्था ही सिद्ध अवस्था कहलाती है। यहाँ पहुँचते ही उसके सारे राग, विराग विसर्जित हो जाते हैं और वह पूर्णतः हो जाता है -वीतराग। इस प्रकार जीव का विकासात्मक अस्तित्व रागमयी से विरागमयी होता हुआ वीतरागमयी हो जाता है। उसकी वीतरागमता ही उसका सिद्धत्व है, ईश्वरत्व है।

मंगल कलश
३९४ सर्वोदयनगर, आगरा रोड़,
अलीगढ़।

* * * * *

चिंतन कण

- अगरब त्ती की खुशबी से जन-मानस प्रफुल्लित हो उठते हैं किंतु यदि उससे ब्ढ़कर प्रेम पराग जीवन में उतर गया तो वह भी जीवन को झंकृत किए बिना नहीं रह सकता।
- प्रेम से बढ़कर इसका कोई मंत्र नहीं
- संसार के प्राणिमात्र से निःस्वार्थ भाव से प्रेम करना ही वास्तविक प्रेम हैं।
- जीवन के अंतिम लक्ष्य की पगडंडी तर्क नहीं वरन् समर्पण हैं।
- तर्क जीवन को उलझाने वाला हैं, वहीं श्रद्धा जीवन को सुलझाने की प्रक्रिया हैं।

-परम विदुषी महासती श्री चम्पाकुवंरजी म.सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org